इकाई 7 क्षेत्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको प्रादेशिक सांस्कृतिक परम्पराओं के विकास से परिचित कराया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के उदय का उल्लेख कर सकेंगे;
- कला, साहित्य, शिक्षा, पढ़ाई और धर्म संबंधी क्षेत्रीय आयामों को रेखांकित कर सकेंगे;
- स्थापत्य की शैलियों का विकास बता सकेंगे और विभिन्न मंदिरों को वर्गीकृत करने का आधार जान सकेंगे;
- स्थापत्य संबंधी शब्दावली को समझ सकेंगे;
- पर्यावरण और मंदिर संरचना के बीच के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे;
- निर्माण-सामग्री की उपलब्धि और मंदिर निर्माण पर उसके प्रभाव को सूत्रबद्ध कर सकेंगे;
- सम्पूर्ण सांस्कृतिक माहौल में मंदिर की भूमिका का महत्व बता सकेंगे;
- पत्थर और धातु की मूर्तिकला में स्थानीय शैलियों के उदय पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- भाषा, लिपि, कालक्रम और काल संबंध प्रादेशिकता को समझ सकेंगे;
- मध्यकालीन सामंती संस्कृति का फैलाव और उसके सांस्कृतिक आयाम की चर्चा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के निर्माण की दृष्टि से 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के बीच के समय का अपना अलग महत्व है। इस काल में सभी क्षेत्रों में प्रादेशिकता का जन्म हुआ। चाहे राजनीतिक शक्ति का निर्माण हो, चाहे कला के विकास का मामला हो, भाषा और साहित्य का क्षेत्र हो या धर्म का, प्रत्येक चीज़ में प्रादेशिकता का रंग मिल गया। समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण भौतिक परिवर्तनों के कारण आंध्र प्रदेश, असम, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु आदि क्षेत्र सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में उभरे। जैसा कि खंड 1 में बताया जा चुका है कि कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र में हो रहे परिवर्तन से सामंती

व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक आधार निर्मित हो रहा था। (इस तथ्य की चर्चा इस खंड की इकाई 5 में भी की गई है।) आगे के खंड 3 में हम देखेंगे कि इन गतिविधियों से राजनीतिक ढांचा भी अप्रभावित नहीं रहा।

इन परिवर्तनों के कारण सांस्कृतिक लोकाचार भी प्रभावित हुआ। पांचवी शताब्दी में विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक ***मुद्राराक्षस*** में विभिन्न प्रदेशों के अलग रीति-रिवाज़ों, पहनावे और भाषा का उल्लेख मिलता है। चीनी तीर्थयात्री ह्वेन सांग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आया था, उसने कई राष्ट्रीयताओं की चर्चा की है। आठवीं शताब्दी के जैन ग्रंथ कुवल्यमाल में मुख्य रूप से पश्चिमी भारत की चर्चा की गई है। इसमें 18 प्रमुख राष्ट्रीयताओं का उल्लेख किया गया है और 16 तरह के लोगों की मानवीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इस क्रम में, उनकी मनोवैज्ञानिक बनावट और भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। तेरहवीं शताब्दी बंगाल के ब्रह्मवैवर्त पुराण में "देशभेद" का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ है—विभिन्न प्रदेशों/राज्यों की विभिन्नता।

7.2 मंदिर स्थापत्य

हज़ारों वर्षों से भारतीय मंदिर लोगों की जीवन शैली के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। संपूर्ण भारत में विभिन्न कालों के भारतीय मंदिरों पर विचार करने से एक समग्र दृश्य उपस्थित होता है। पांचवी शताब्दी में सांची में एक साधारण-सा मंदिर निर्मित हुआ। उसके बाद मंदिर स्थापत्य तेजी से विकसित हुआ। कांची, तंजावूर और मदुरई में बने भव्य मंदिर इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह विकास एकाएक नहीं हुआ, बल्कि यह हज़ारों वर्षों की विकास-यात्रा का परिणाम है।

मंदिर स्थापत्य से सम्बद्ध प्रमुख शिल्पशास्त्र निम्नलिखित हैं:
मायामत, मनसर, शिल्परत्न, कामिकाजम, कश्यपशिल्प; और इशानगुरूदेवपद्धति।

इन सभी शिल्पों में तीन बातों का ध्यान रखा जाता था:

- भौगोलिक विभिन्नता
- आकार के आधार पर विभिन्नता
- उनके प्रमुख देवी-देवता और जाति

इन सभी शास्त्रों में उपर्युक्त सारे विषयों का उल्लेख नहीं है। कामिकज्ञम और कश्यपशिल्प जैसे बाद के ग्रंथों में इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि विभिन्नता का मुख्य आधार अलंकरण का स्वरूप, विभिन्न तल या मंज़िलें और प्रसाद का आकार आदि होता था।

7.2.1 प्रमुख शैलियां

प्राचीन ग्रंथों में भारतीय मंदिर स्थापत्य को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है। नागर, द्रविड़ और बेसर जैसे नाम मंदिरों के आकार-प्रकार और भौगोलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। नागर शैली के मंदिर चौकोर आकार के होते थे, द्रविड़ शैली में मंदिर अष्टकोणीय होते थे, और बेसर शैली के मंदिर बहुकोणीय होते थे। नागर और द्रविड़ शैली के मंदिर आमतौर पर उत्तरी और दक्षिण मंदिर शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूरे उत्तर भारत में, हिमालय की तलहटी से लेकर दक्खन के मध्य पठार तक उत्तर भारतीय शैली के मंदिर मिलते हैं। इसके बावजूद, इनमें कुछ क्षेत्रीय विभिन्नता भी पाई जाती है। अपराजितपृच्छ नामक ग्रंथ में नागरी (नागर) शैली को मध्य देश (मोटे तौर पर गंगा-यमुना के मैदानी इलाके) की शैली कहा गया है; इसी प्रकार लाटी और वैराटी गुजरात और राजस्थान प्रदेश की शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उड़ीसा के स्थानीय अभिलेखों में उड़ीसा मंदिर शैली के चार प्रमुख रूपों का उल्लेख मिलता है। ये हैं: रेखा, भद्र, खारखर और गौदिया।

द्रविड़ या दक्षिण शैली में अपेक्षाकृत एकरूपता मिलती है। कृष्णा नदी और कन्याकुमारी के बीच के इलाकों में इसी शैली का बाहुल्य है। बेसर शैली का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। कुछ ग्रंथ इस शैली का विस्तार विंध्य और कृष्णा नदी के बीच के इलाकों में मानते हैं, जबकि कुछ ग्रंथ इसका फैलाव विंध्य और अगस्त्य के बीच मानते हैं। अगस्त्य किस जगह स्थापित था, इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि नागर शैली के मंदिर दक्षिण में धारवाड़ (कर्नाटक) में भी मिले हैं और द्रविड़ शैली के मंदिर उत्तर में एलोरा (महाराष्ट्र) में भी बने हैं। अतः इन शैलियों को भौगोलिक सीमा में बांधना बहुत संगत नहीं है। कुछ विशेष कालखंड में विभिन्न प्रदेशों की शैलियां एक-दूसरे में घुल-मिल गई हैं। मसलन सातवीं-आठवीं शताब्दी में चालुक्य राज्य उपमहाद्वीप के बिल्कुल बीच में अवस्थित थे। खजुराहो का कंदरिया महादेव मंदिर विभिन्न शैलियों का सुंदर समुच्चय है। इसी प्रकार, केरल के मंदिरों में योजनागत कई विभिन्नताएं। इनमें चौकोर, गोल और बहुकोणीय इमारतों का उपयोग किया गया है। केरल में, मंदिरों का निर्माण बारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था।

7.2.2 प्रमुख देवी-देवता

मंदिरों में केवल ब्राह्मण धर्म के आराध्य शिव और विष्णु ही स्थापित नहीं हैं, बल्कि देवीयों को भी मंदिरों में स्थापित किया गया था। वस्तुतः मंदिरों में बड़े और छोटे देवी-देवताओं, परोपकारी तथा अपकारी, स्वार्गिक तथा पार्थिव, वातावरण और स्वर्ग के प्रतिनिधि देवी-देवता, देव और असुर तथा यक्ष, यक्षी, अप्सरा और किन्नर जैसे लोक देवी-देवताओं को आराध्य बनाकर भी मंदिर बने। यह एक रोचक तथ्य है कि इन देवी-देवताओं के वाहन जानवर और पक्षी भी अपनी साधारणता से ऊपर उठकर आराधना के प्रतीक बन गए। शिव का वाहन बैल (नंदी) ईश्वर की यौन शक्ति का प्रतीक बन गया; दुर्गा का वाहन शेर मज़बूत शक्ति और आक्रमण का प्रतीक बन गया। गंगा और यमुना जैसी नदी-देवियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः उनके वाहन घड़ियाल और कछुआ करने लगे। लक्ष्मी का अस्तित्व हाथी, कमल के फूल और पानी से जुड़ गया। इन प्रतीकों के माध्यम से लक्ष्मी न केवल भाग्य की देवी के रूप में अवतरित हुई, बल्कि कृषीय उत्पादकता की जादुई शक्ति से भी इसका संबंध जोड़ दिया गया। यह धारणा ऋग्वेदकाल से ही चली आ रही थी। "हंस पर आरूढ़ सरस्वती" सौम्यता और चारूता की देवी बन गई; वह नीर-क्षीर-विवेक का प्रतिनिधित्व करने लगीं और उनका संबंध शिक्षा तथा अध्ययन से जुड़ गया। कश्यप शिल्प के एक अध्याय में इन देवियों को स्थापित करने की शैली का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार, शांतमूर्तियों को नागर शैली में स्थापित किया जाना चाहिए; दम्पत्ति देवी-देवताओं को बेसर शैली में और शौर्य, नृत्य तथा सुख में लिप्त देवी-देवताओं को नागर ढांचे में स्थापित किया जाना चाहिए। परन्तु व्यावहारिक रूप में इन सिद्धांतों का अक्षरशः पालन नहीं किया गया। इसी प्रकार, कुछ ग्रंथों में यह विवरण मिलता है कि नागर, द्रविड़ और बेसर शैलियां क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के साथ सम्बद्ध थीं, इस उल्लेख को भी हूबहू स्वीकार नहीं करना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) हमें क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के बारे में जानकारी कैसे प्राप्त हुई?

....
....
....
....

2) मंदिर स्थापत्य से सम्बद्ध छः प्रमुख ग्रंथों का नाम लिखिए।

1) ....
2) ....
3) ....
4) ....
5) ....
6) ....

3) तीन प्रमुख शैलियों का उल्लेख कीजिए। उनकी भौगोलिक स्थिति को भी स्पष्ट कीजिए।

....
....
....
....

4) विभिन्न शैलियों के मंदिरों में स्थापित प्रमुख देवी-देवताओं का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

7.2.3 मंदिरों के आकार, योजना और शब्दावली

प्रत्येक मंदिर शैली की अपनी एक खास तकनीकी शब्दावली थी; कुछ शब्द आम थे, परन्तु प्रत्येक शैली में उनका प्रयोग अलग-अलग भागों के लिए किया जाता था। मुख्य उपासना स्थल को विमान कहते थे, जिसमें गर्भगृह स्थित रहता था। विमान के ऊपर के भाग को शिखर कहा जाता था। पूजा करने के लिए बने स्थान को मंडल कहते थे। विमान, मंडल और प्रदक्षिणापथ को जोड़ने वाले गलियारे को अंतराल कहा जाता था। प्रदक्षिणापथ गर्भगृह और मंडल के चारों ओर रहता था। देवी-देवताओं को चमत्कार और महिमा से मंडित करने के लिए बाद में नटमंदिर (नृत्य का स्थान) और भोग मंदिर जोड़े गए। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मंदिर इसका जीता जागता उदाहरण है। नागर शैली के मंदिर का बाहरी भाग समतल रूप में कई स्तरों पर विभक्त होता था। भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर का जगमोहन (गर्भगृह के सामने का भाग) इसका अच्छा उदाहरण है। विमान ज्यादातर गोलाकार होते थे। आधारभूत तौर पर उत्तर के ब्राह्मण और जैन मंदिरों में कोई स्थापत्यगत समानता नहीं थी। उनमें बस एक ही समानता थी कि दोनों प्रकार के मंदिरों में क्रमशः देवी-देवताओं और तीर्थकरों को व्यापक रूप में स्थापित किया गया था।

द्रविड़ शैली बहुकोणीय थी। इसका शिखर आमतौर पर अष्टकोणीय होता था और ऊंचे विमान आयताकार होते थे। द्रविड़ शैली के मंदिर अपने ऊंचे गोपरम या बड़े दरवाजों के लिए प्रसिद्ध थी। महाबलीपुरम (मद्रास के निकट) स्थित पल्लव काल (सातवीं शताब्दी) के गणेश रथ से तंजाउर स्थिर चोलों (985-1012) के बृहदेश्वर मंदिर तक द्रविड़ शैली का लगातार विकास हुआ।

7.2.4 पारिस्थितिकी, निर्माण सामग्री और क्षेत्रीयता

पारिस्थितिकी ने मंदिर स्थापत्य को काफी प्रभावित किया और इसके कारण उनमें प्रादेशिक पुट आ गया। भारत के पश्चिमी तट पर और बंगाल में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है, इसलिए यहां के मंदिरों की छतें ढलवां हैं। इसमें तिकोनी लकड़ियों का उपयोग किया गया है। हिमालय क्षेत्र में बर्फ और तूफान से बचाव करने के लिए मंदिरों में लकड़ी की ढलवां छतें बनाई गई हैं। आमतौर पर गर्म और सूखे इलाके में छतें सपाट होती थीं; बरामदे खुले और छायादार होते थे। रोशनी के लिए झिल्लीदार चट्टानों का उपयोग किया जाता था। **ऐचोल** (उत्तर कर्नाटक) में बने चालुक्यों के प्रसिद्ध **लडखन** मंदिर में इस प्रकार की कुछ विशेषताएं मिलती हैं। इस पर ग्रामीण स्थापत्य का सीधा प्रभाव है, जिसमें लकड़ी और खरपत का उपयोग किया जाता था। ऊंची पहाड़ियों पर बने होने के कारण जैन मंदिरों का स्थापत्य अलग ढंग का होता था। इनके ढांचे में अकेलेपन और एकांत का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। इस प्रकार के कुछ मंदिरों के उदाहरण गुजरात की शत्रुंजय और पालिताना पहाड़ियों पर मिल जाएंगे। दक्षिण राजस्थान में माउंट आबू पर स्थित दिलवारा मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है।

पारिस्थितिकी के अलावा, भवन निर्माण के लिए उपलब्ध कच्चे माल के कारण भी मंदिर शिल्प प्रभावित हुआ। तीसरी शताब्दी ई. पू. में मौर्य काल के दौरान भवन के निर्माण के लिए लकड़ी के स्थान पर पत्थर का इस्तेमाल किया जाने लगा। भवन निर्माण के क्षेत्र में यह एक बड़ी उपलब्धि थी। परन्तु कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धि से क्षेत्रीय शैलियां काफी प्रभावित हुई, इससे मंदिर के निर्माण और नक्काशी पर भी प्रभाव पड़ा। पल्लव राजा महेंद्र वर्मन (सातवीं शताब्दी का आरंभ) को वित्रचित्र कहा जाता था, क्योंकि वह हमेशा नए प्रयोग करता रहता था। उसने ईंट, लकड़ी और चूने के स्थान पर पत्थर का उपयोग करना शुरू किया। महाबलीपुरम में उसके द्वारा बनाए गए मंदिर इसका प्रमाण हैं। कड़े पत्थरों पर नक्काशी कम हुई, जबकि मुलायम पत्थरों पर नक्काशी की मात्रा अधिक पाई जाती है। वेल्लूर और हेलविड (कर्नाटक) स्थित बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के होयसाल शिल्पियों और कारीगरों ने भुरभुरी और परतदार चट्टानों का उपयोग किया तथा नक्काशी को प्रोत्साहन दिया। जहां अच्छे पत्थर उपलब्ध नहीं थे, वहां ईंटों का उपयोग भी होता रहा, ईंट की ढलाई और नक्काशी की तकनीक से इन इलाकों का मंदिर स्थापत्य भी प्रभावित हुआ। बंगाल में बिशनपुर स्थित मंदिर इसका प्रमाण है। उत्तरी-पूर्वी राज्य आसाम में मंदिर स्थापत्य में लकड़ी और बांस की तकनीक का सुंदर उपयोग मिलता है। हिमालय की घाटी में कुलु, कांगड़ा और चंबा में पत्थर से बने मंदिर नहीं मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि इन इलाकों में मंदिर निर्माण के लिए ईंट और लकड़ी का उपयोग होता था। कश्मीर के पत्थर से बने मंदिरों में ढलवां और तिकोनी छतें हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि लकड़ी से बनी इमारतें भी इसी तरह की होंगी। कांगड़ा घाटी के मसरर में हुई खुदाई में नवीं शताब्दी या उसके आसपास का बना एक बहुमंजिला मंदिर मिला है।

7.2.5 अलंकरण के स्वरूपों की भूमिका

विभिन्न शैलियों में सजावट, अलंकरण और अन्य सज्जा का समावेश स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मंदिर के आधारभूत स्थापत्य पर इस अलंकरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अलंकरण और साज-सज्जा का विकास धीरे-धीरे हुआ। आरंभिक पल्लव काल की इमारतों में आयताकार खंभे मिलते हैं, जिनपर छैनी से अलंकरण किया गया है (यह खराद कला का नमूना प्रतीत होती है)। होयसल मंदिरों के खंभों पर इसी प्रकार का अलंकरण मिलता है। मदुरै और रामेश्वरम में बने बाद के मंदिरों में लंबे गलियारे हैं, जिसके स्तंभों पर जानवरों के चित्र उकेरे गए हैं। ताक, पैविलियन और घोड़े के नाल के आकार की खिड़कियां (कुडु)

अलंकरण के प्रमुख प्रकार थे। इनसे अलंकरण के विकास के निर्धारण में सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अलंकरण की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गई। उदाहरणस्वरूप, महाबलिपुरम के स्मृति स्तंभ का शीर्ष सादा बेलचे के आकार का है, जबकि चोल स्मृति स्तंभों में शीर्ष पर शेर के सर की आकृति है। उत्तर भारत में भी अलंकरण की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी। शिखर, अंदरूनी छतों और दीवारों पर विशेष रूप से नक्काशियां की गई। माउंट आबू स्थित दिलवारा जैन मंदिर की अंदरूनी छतों पर अति सुंदर नक्काशी की गई है। पर इस अलंकरण का स्थापत्य की दृष्टि से उपयोग नहीं है और विशुद्ध रूप से अलंकरण का उदाहरण हैं।

मालाबार, बंगाल और पूर्वी तथा पश्चिमी हिमालय प्रदेश के मंदिर बहुमंजिले हैं। एक के बाद एक छतों के निर्माण को अक्सर इन मंदिरों की विशेषता के रूप में देखा जाता है। पश्चिमी तट या मालाबार के मंदिर की दीवारें लकड़ी की पटरियों से बनाई जाती थीं। चौदहवीं शताब्दी के पत्थर के बने मंदिर भी मिले हैं। इस प्रकार के मंदिरों (मसलन, त्रिचुर का वदक कुंठ मंदिर — 15-16 वीं शताब्दी) में या तो सामान्य प्रकार की छत होती थी, जिनमें एक के ऊपर एक पत्थर के टुकड़े लगाए जाते थे या एक के ऊपर एक छतों का सिलसिला होता था। चीन और नेपाल में भी इसी प्रकार के मंदिर देखने को मिलते हैं।

पश्चिमी हिमालय की कश्मीर घाटी में लकड़ी की बनी दो-तीन छतें होती थीं। लकड़ी की छतों के बीच का स्थान रोशनी और हवा के लिए खुला छोड़ दिया जाता था। पत्थर से बने मंदिरों में इस खुले स्थान को अलंकृत कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, छतों पर खिड़कियां होती थीं, इस प्रकार की खिड़कियों का उपयोग मध्यकालीन यूरोपीय स्थापत्य में भी किया जाता था। कश्मीर में इस प्रकार की छतें पाद्रेथान के शिव मंदिर और मार्तण्ड के सूर्य मंदिर में मिलती हैं। बंगाल के मंदिर स्थानीय पत्रों से बने झोपड़ों के प्रतिरूप हैं। गुफाओं की तर्ज पर बने इन मंदिरों में एक के बाद एक छतें देखने को मिलती हैं। विष्णुपुर स्थित केश्टा राय मंदिर (17 वीं शताब्दी) में चौकोर और आयताकार छतों की योजना की गई है। यहां तक कि समकालीन मुगल स्थापत्य में भी "बंगाल छत" का उपयोग किया जाता था।

7.3 भवन योजना और निर्माण

मंदिर का निर्माण सुसंगठित योजना के तहत होता था। ईंटें या तो निर्माण-स्थल पर ही पकाई जाती थीं या निर्माण स्थल के बगल में यह कार्य सम्पन्न होता था। चट्टान और पत्थर आसपास के इलाकों से लाए जाते थे। मंदिरों में उत्कीर्ण अभिलेखों और एक भोज पत्र पर लिखे आलेख से विश्व प्रसिद्ध कोणार्क के सूर्य मंदिर के भवन की निर्माण योजना का पता चला है। इसके अनुसार, खान से पत्थर लकड़ी के पहियों पर लाद कर लाए जाते हैं, इन्हें हाथी खींचते थे। इसके अलावा, नदी और नहर के माध्यम से भी पत्थर लाए जाते थे। निर्माण स्थान पर राज मिस्त्री पत्थरों की कटाई छंटाई करते थे, बाद में उन्हें रस्सियों के सहारे ढांचे में लगा दिया जाता था। ढांचे को खड़ा करने के लिए लकड़ी के बल्लों और चूने का उपयोग किया जाता था। तंजाउर के बृहदेश्वर मंदिर का विशाल शिखर पत्थर को एक के ऊपर एक जमाने का सुंदर नमूना है। इस शिखर का वज़न 80 टन और ऊंचाई 200 फीट है। आम धारणा यह है कि इसका निर्माण अपने वर्तमान निर्माण स्थल से सात किलोमीटर दूर सारापल्लन (इसका शाब्दिक अर्थ है अवसाद से मुक्ति) में किया गया था; उसे सीधा खड़ा करने के क्रम में मंदिर सात किलोमीटर खिसक गया। अक्सर गर्भगृह और हाल में लोहे की बीम का उपयोग किया जाता था। कोणार्क के मंदिर इसके प्रमाण हैं। मंदिरों के निर्माण में लगे स्थापत्यकार, शिल्पी और मज़दूर श्रेणियों के रूप में संगठित थे। कोणार्क मंदिर के अभिलेख में मज़दूर और उनकी मज़दूरी, काम के नियम और विभिन्न इमारतों के बनाए जाने की प्रक्रिया का उल्लेख मिला है। कहीं-कहीं पत्थर में की गई नक्काशी में भी उनका उल्लेख मिलता है, मसलन 11वीं शताब्दी में बने खजुराहो की दीवारों में पत्थर काटते, छेद करते, मज़दूरों का और मंदिर निर्माण के लिए पत्थर ढोये जाने का दृश्य अंकित है।

बोध प्रश्न 2

1) मंदिर की योजना में मुख्य अंग कौन से होते हैं?

....

....

....

....

....

2) मंदिर की छत के निर्धारण में पारिस्थितिकी और निर्माण सामग्री की उपलब्धता का क्या योगदान था?

....

....

....

....

3) किस क्षेत्र में मंदिर के अलंकरण के लिए एक के ऊपर एक छतें बनाई जाती थीं?

....

....

....

....

....

7.4 कालक्रमानुसार और भौगोलिक आधार पर भारतीय मंदिरों का विस्तार

इस भाग में हम कालक्रमानुसार और भौगोलिक स्थिति के अनुसार प्रमुख मंदिरों की चर्चा करेंगे।

उत्तरी शैली: उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत में (पांचवी से सातवीं शताब्दी)
नघना (खजुराहो के दक्षिण-पूर्व, मध्य प्रदेश) का पार्वती मंदिर, देवगढ़ (ज़िला झांसी, उत्तर प्रदेश) का दशावतार मंदिर, भीतरगांव (ज़िला कानपुर, उत्तर प्रदेश) का ईंट मंदिर, गोप (गुजरात) का विष्णु मंदिर, रामगढ़ (बिहार) का मुंडेश्वरी मंदिर (यह अष्टकोणीय योजना का उदाहरण है) और जीगवा और सांची (मध्य प्रदेश) के मंदिर।

दक्कन और मध्य भारत (छठी से आठवीं शताब्दी)
एलोरा (महाराष्ट्र के औरंगाबाद के निकट), एलीफेंटा (बंबई के निकट) और बादामी (उत्तरी कर्नाटक), आरंभिक चालुक्य मंदिर, ऐहोल (लडखन मंदिर) और पट्टडकल (पापनाथ और गलगंठ मंदिर) में बने गुफा मंदिर।

पश्चिमी और मध्य भारत (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी)
ओसियन (जोधपुर के उत्तर में राजस्थान में), जलिका मंदिर (ग्वालियर), खजुराहो के चंदेल मंदिर (खासकर लक्ष्मण, कंदरिया महादेव और विश्वनाथ मंदिर, रोडा मंदिर (मोधेरा के दक्षिण, गुजरात), मोधेर (गुजरात) का सूर्य मंदिर और माउंट आबू (राजस्थान) स्थित संगमरमर के बने जैन मंदिर।

पूर्वी भारत (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी)
परशुरामेश्वर वैतल देवल, मुक्तेश्वर, लिंगराज और राजारानी मंदिर (सभी भुवनेश्वर स्थित), कोणार्क (उड़ीसा) का सूर्य मंदिर और पुरी (उड़ीसा) का जगन्नाथ मंदिर।

हिमालय क्षेत्र (आठवीं शताब्दी से आगे)
मार्तण्ड स्थित सूर्य मंदिर, पांद्रेथन स्थित शिव मंदिर और अवेंतस्वमीन स्थित विष्णु मंदिर (सभी कश्मीर में), मसरूर (कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश), स्थित मंदिर, नेपाल के ब्राह्मण मंदिर (काठमांडु, पाटन और भदगांव)

उत्तरी शैली
दक्कन और तमिलनाडु (छठी से दसवीं शताब्दी)
महाबलिपुरम (मद्रास के निकट) स्थित पल्लवों द्वारा निर्मित गुफा मंदिर, रथ और समुद्र तट मंदिर, कांचीपुरम (मद्रास के निकट) स्थित वैकुंठपेरूमल और कैलाशनाथ मंदिर, ऐहोल (मंगूती मंदिर), बादामी (मालेगिट्टी शिव मंदिर) और पट्टदकल (विरूपल मंदिर) और राष्ट्रकूटों के संरक्षण में बने एलोरा स्थित कैलाश मंदिर।

कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल (दसवीं से सत्रहवीं शताब्दी)
तंजाउर और गंगइकोंडाचोलापुरम स्थित चोलों के बृहदेश्वर मंदिर, वेल्लूर, हेलेविड और सोमनाथपुर (सभी कर्नाटक में) स्थित होयसलों के मंदिर, कर्नाटक (लक्कुंडी और गडग) स्थित बाद के चालुक्यों के मंदिर, विजयनगर में पांडयों का पपती मंदिर, श्रीरंगम (त्रिनापल्ली के निकट, तमिलनाडु) और मीनाक्षी मंदिर (मदुरई, तमिलनाडु), कट्टिलमडम मंदिर (चालपुरम जिला पालघाट, केरल) और तिरूवल्लम (त्रिवेंद्रम के निकट) स्थित परशुराम मंदिर।

वेसर शैली
आधुनिक महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट पर स्थित सन् ईसवी की आरंभिक शताब्दियों में बने बौद्ध चैत्य हॉल इस शैली के नमूने हैं। बहुकोणीय योजना इस शैली की सर्वप्रमुख विशेषता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि इसकी विशेषताएं सुस्पष्ट नहीं हैं और भौगोलिक विस्तार के बारे में कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता। सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच बने इस प्रकार की इमारतों के नमूने छेजराला (आंध्र प्रदेश), ऐहोल (दुर्गा मंदिर),

महाबलिपुरम (सहदेव और द्रौपदी रथ) और केरल (त्रिकेंडियूर और तिरूवन्नूर के शिव मंदिर) में पाए गए हैं। दसवीं शताब्दी के बाद के मंदिरों में चिदंबरम (तमिलनाडु) का नटराज मंदिर और किझावल्लूर (ज़िला कोट्टायाम, केरल) का वामन मंदिर उल्लेखनीय है।

7.5 मंदिर और भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार

भारतीय मंदिर मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं, इनमें पूरे समाज की विविध गतिविधियां सम्पन्न होती थीं।

मंदिर विद्या का केंन्द्र था। मंदिर को प्राप्त धन का कुछ हिस्सा महाविद्यालय के लिए रख दिया जाता था, ये महाविद्यालय मंदिर परिसर में ही निर्मित होते थे। इनमें व्याकरण और ज्योतिष जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी और वेद, रामायण, महाभारत और पुराण जैसे ग्रंथों का पाठ किया जाता था और इन्हें पढ़ाया भी जाता था। मंदिर में होने वाले अनुष्ठानों में नृत्य और संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था, विशेष आयोजनों के अवसर पर इसका महत्व और भी बढ़ जाता था। बड़े मंदिरों में गीतकार और संगीतकार, नर्तकी, अभिनेता और कला शिक्षक की नियुक्ति होती थी। दसवीं शताब्दी में बने खजुराहो के मंदिरों और कोणार्क के सूर्य मंदिर में ऐसे संगीतकारों की जीवनी चित्रांकित की गई है। उड़ीसा में बने मंदिरों और अन्य मंदिरों में नट मंदिर (नृत्य हाल) का समावेश अनिवार्य हो गया। इन सब तथ्यों से मंदिर में गीत और संगीत की भूमिका का पता चलता है। ऐसा माना जाता है। कि चिंदबरम मंदिर में महादेव शिव ने खुद नृत्य किया था। इसके अतिरिक्त, देवदासी प्रथा मंदिर से जुड़ी हुई थी। मंदिरों की ये दासियां मंदिर के भगवान की सेवा के लिए रखी जाती थीं। वे गाकर और नृत्य कर भगवान को रिझाती थीं। चोल शासक राजाराज प्रथम (985-1012) ने बृहदेश्वर मंदिर (तंजाउर) में चार सौ देवदासियों के रहने के लिए दो लंबी गलियां निर्मित करवाई थीं। इससे यह पता चलता है कि वह मंदिर को काफी दान दिया करता था और उसके कार्यकलापों पर काफी ध्यान देता था। कई मंदिरों में नित्य उत्सव होते रहते थे, इन उत्सवों में पौराणिक और लोकाचार संबंधी तत्वों का मिश्रण होता था, पुरी के जगन्नाथ मंदिर से जुड़ी रथयात्रा का वार्षिक उत्सव इसका प्रमाण है। तीर्थयात्राओं के माध्यम से भी लोग मंदिर की गतिविधियों में हिस्सा लेते थे।

मंदिर काफी लोगों को काम और रोज़गार दिया करता था। इस कारण से लोगों के आर्थिक जीवन पर मंदिर का काफी प्रभाव था। छोटे मंदिरों में भी पुजारियों, माला बनाने वालों, दूध, मक्खन और तेल के व्यापारियों की जरूरत पड़ती थी। 1011 ई. में बने तंजाउर मंदिर में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें मंदिर द्वारा लोगों को दी जाने वाली सहायता और मज़दूरी का पूरा ब्यौरा दिया गया है। इस अभिलेख में रसोइयों, मालियों, नृत्य शिक्षकों, माला बनाने वालों, संगीतकारों, बढ़इयों, चित्रकारों, संस्कृत और तमिल श्लोकों को गाने के लिए गान-मंडली, लेखाकार, चौकीदार, अन्य अधिकारियों, मंदिर के सेवकों जैसे छह सौ कर्मचारियों का जिक्र किया गया है (इसके लिए इकाई 6.5 और 11.5 भी देखें)।

7.6 मूर्तिकला : पत्थर और धातु की मूर्तियां

मूर्तिकला भी क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त थी। पूर्वी, पश्चिमी, मध्य और उत्तरी भारत में वास्तुशिल्प से संबंधित कला-केंद्र विकसित हुए, जिसमें मानव आकृतियों को एक विशेष कला-रूप में ढाला गया। हिमालय क्षेत्र, दक्कन और सुदूर दक्षिण में भी वास्तुशिल्प के कला केंद्र विकसित हुए। प्रत्येक प्रदेश में एक विशेष प्रकार की कला विकसित हुई। इस विकास को कला इतिहासकार और आलोचक निहार रंजन राय "मध्यकालीन प्रभावों" का परिणाम मानते हैं। इस "मध्यकालीन प्रभाव" के कारण मूर्तियों में कृशता आने लगी और आरेखों तथा तीक्ष्ण कोणों पर विशेष बल दिया जाने लगा। मूर्तियों में गोलाई का अंश कम होने लगा और ये सपाट बनने लगीं। मूर्तियों की गोलाई की उत्तलता समाप्त होने लगी और यह अवतल बनाई जाने लगीं। दसवीं शताब्दी के बाद के पश्चिमी और मध्य भारतीय वास्तुशिल्प, पूर्वी भारत और हिमालय क्षेत्र की धातु प्रतिमाएं, गुजराती और राजस्थानी पुस्तक और कपड़ों पर की गई चित्रकारी, बंगाल में बनी मिट्टी की मूर्तियां और लकड़ी पर की गई खुदाई और दक्खन तथा उड़ीसा के कुछ चित्र इस नई अवधारणा को प्रतिबिंबित करते हैं।

आरंभिक मध्यकालीन वास्तुशिल्प में मनुष्य रूप में देवी-देवताओं और उनके सेवकों की मूर्तियों का वर्चस्व रहा। इस प्रकार की प्रतिमाओं की आधारभूत संरचना बनी-बनाई होती थी, अतः संपूर्ण भारत में कमोबेश एक प्रकार की मूर्तियां ही मिलती हैं। एक बात ध्यान देने की है कि भारत के सभी भागों में यह कला एक ही समय में अपने उत्कर्ष पर नहीं पहुंची। बिहार और बंगाल में यह नवीं और दसवीं शताब्दी में शीर्ष पर पहुंची, उड़ीसा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में, मध्य भारत में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में, गुजरात में ग्यारहवीं, और सुदूर

दक्षिण में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में। केवल दक्खन में भावशून्यता और अनगढ़पन देखने को मिलता है और इसकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती ही गई, वस्तुतः आठवीं शताब्दी तक दक्खन में वास्तुकला का अंत हो चुका था।

धार्मिक मूर्तियों के अलावा धातु (लोहे को छोड़कर) से बनी मूर्तियों का रूप क्षेत्रीय स्तर एक सा होता था। कहने का तात्पर्य यह है कि एक क्षेत्र की मूर्तियां एक-सी दीखती थीं, उसमें कलाकार की व्यक्तिगत विशेषता नहीं झलकती थी। विभिन्न विषयों को आधार बनाकर ये प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। इनमें वर्णनात्मक कथाएं, ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक दृश्य, संगीत और नृत्य के दृश्य, यौन क्रीड़ा में लिप्त दम्पत्ति (विभिन्न मुद्राओं में), यौद्धाओं की पोशाक और जानवर तथा शाभंजिका (स्त्री और पेड़) उल्लेखनीय हैं।

पूर्वी भारत (बिहार और बंगाल, आसाम), हिमालय क्षेत्र के राज्य (खासकर नेपाल और कश्मीर) और खासकर दक्षिण में पीतल, तांबा, काँसा और अष्टधातु से बनी मूर्तियां प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। उत्तरी भारत की प्रतिमाओं में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के दवी-देवताओं का स्थान प्रमुख है। उनकी प्रतिमाओं पर तांत्रिक प्रभाव भी स्पष्ट है। दक्षिण भारत में विभिन्न देवी-देवताओं की धातु मूर्तियां मिलती हैं। इनमें शिव, खासकर नटराज, पार्वती, शैव संत जैसे अप्पाय, अम्बउदार और सउदारार, वैष्णव संत जैसे अलवार और दान देने वाले राजा की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

गुप्त काल के बाद के युग के मूर्तिशास्त्र में एक पदानुक्रम मिलता है, जो सामंती समाज के विभिन्न स्तरों का ही प्रतिबिंबन है। विष्णु, शिव और दुर्गा बड़े देवी-देवता प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनकी मूर्तियां विशाल हैं और उनके साथ छोटी-छोटी मूर्तियां हैं, जो भृत्य और सेवक का प्रतिनिधित्व करते हैं। समकालीन मूर्तिशास्त्र से यह स्पष्ट होता है कि इस काल से मातृदेवी का स्थान सर्वोच्च हो गया था और इस काल की मूर्तियों में मातृ देवी का कद अन्य मूर्तियों की अपेक्षा बड़ा हो गया था। मातृ देवी के प्रभाव से जैन धर्म भी न बच सका, इसका प्रमाण राजस्थान के माउंट आबू में स्थित दिलवारा मंदिर है। एलोरा में कई स्थानों पर देवी-देवताओं को अपने दुश्मनों के विरुद्ध आक्रामक मुद्रा में अंकित किया गया है। शैव, जैन और बौद्ध मठों के संगठन में ऊंच-नीच का भेदभाव स्पष्ट था। आचार्य के अभिषेक के लिए एक अनुष्ठान का प्रावधान था, यह मठ का सर्वोच्च पद होता था। यह अभिषेक राज्याभिषेक की तरह ही होता था।

बोध प्रश्न 3

1) उत्तरी शैली के पांचों वर्गों के दो-दो मुख्य मंदिरों का नाम बताइए।

....

....

....

....

....

2) दक्षिण और वेसर शैली के चार-चार मंदिरों का नामोल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

3) मंदिर के विभिन्न कार्यकलापों से किस प्रकार के लोग मुख्य रूप से जुड़े हुए थे?

....

....

....

....

....

4) वास्तुशिल्प की किस विशेषता को कला इतिहासकार ने "मध्यकालीन प्रभाव" के विशेषण से युक्त किया था।

....

....

....

....

....

7.7 चित्रकला, मिट्टी की मूर्तियां और "मध्यकालीन प्रभाव"

मध्यकालीन चित्रकला की विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

- तीक्ष्ण, तनावपूर्ण और नुकीले कोण। उदाहरण के लिए भंवें और कंधे बनाने में,
- भावपूर्ण चेहरे — तीक्ष्ण और उठी नाक, बड़ी फूली हुई नुकीली आंखें और अर्ध-चन्द्राकार होंठ
- रंगों का प्राधान्य, तीक्ष्ण वृत्त पर बनी मूर्तियां
- साज-सज्जा में ज्यामिति और भाव का सामंजस्य

इन विशेषताओं का प्रतिबिंबन एलोरा के कैलाश मंदिर (आठवीं शताब्दी) की दीवारों पर की गई चित्रकारी, सित्तनवसल स्थित जैन मंदिर (नवीं शताब्दी) और तंजाउर स्थित बृहदेश्वर मंदिर (ग्यारहवीं शताब्दी) में मिला है। दसवीं शताब्दी के बाद बिहार, बंगाल, नेपाल और तिब्बत में जो पांडुलिपियां तैयार की गई, उनमें चित्रकारी भी की गई। यह चित्रकारी ऊपर दी गई विशेषताओं से युक्त है। इस परम्परा के तहत कपडों पर भी खूब चित्रकारी की गई। तेरहवीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारतीय कपड़ों और बाद में दक्खन, दक्षिण, उड़ीसा और बंगाल में बने कपड़ों के डिज़ाइन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने लगे।

इस काल की मिट्टी की मूर्ति संबंधी कला में सामंती छाप स्पष्ट होने लगी। गुप्त काल के बाद अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में सामंती तत्वों का प्रभाव तेजी से बढ़ा। कला के संरक्षक भी बदल गए और कला का विषय भी बदल गया। संपूर्ण कला संबंधी गतिविधियों का सामंतीकरण हो गया। गुप्त काल के पूर्व कला के संरक्षक व्यापारी वर्ग, शिल्पी और कारीगर श्रेणियां और राज परिवार थे। इस प्रकार के कला के नमूने भरदुत, सांची, कार्ले, अमरावती, नागार्जुनकोंडा आदि में देखे जा सकते हैं। गुप्त काल (चौथी-छठी शताब्दी) में सामंती प्रवृति की अभी-अभी शुरुआत हुई थी, इसमें ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध मंदिर का निर्माण स्थाई रूप में (पत्थर से) हुआ। गुप्त काल के बाद (650 से 1300 ई.) के समय में विभिन्न राजाओं, सामंतों, सेनाधिकारियों आदि ने कला को संरक्षण प्रदान किया, जिनके पास कला संबंधी गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करने का सामर्थ्य था। मिट्टी की मूर्तियां पहले आम आदमी का प्रतिनिधित्व करती थीं, अब यह कला बहुत समृद्ध व्यक्तियों के हाथ का खिलौना बन गई। गुप्त काल के बाद के समय में मिट्टी की मूर्तियों की खपत करने वाले शहरी बाज़ार समाप्त होने लगे। हालांकि कुछ पुराने शहर जैसे वाराणसी, अहिछत्र और कन्नौज अस्तित्व में बने रहे और प्रान्दपुर (बुलंदशहर के निकट, उत्तर प्रदेश) जैसे नए शहर आरंभिक मध्यकालीन युग में पनपे, पर इनमें से किसी शहर में मिट्टी की मूर्तियों के उत्पादन को बढ़ावा नहीं मिला। अब मिट्टी की मूर्तियों के निर्माता बाज़ार के लिए उत्पादन नहीं करते थे, बल्कि बड़े भूमिपतियों ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण मंदिरों और मठों की मांग पूरी करने लगे। अब निर्माता (पुस्तकारक) शिल्पी का मातहत मात्र रह गया। मिट्टी की मूर्तियां समृद्ध वर्ग की कला का प्रतिनिधित्व करने लगीं और इनका जमाव जहारपुर, राजबदिदंगा (बंगाल), विक्रमशिला (बिहार), अखनुर और उश्कर (कश्मीर) जैसे सामंती मुख्यालयों और धार्मिक केंद्रों में होने लगा। गुप्तकाल के बाद के वर्षों में मिट्टी की मूर्तियों का उपयोग भूमिपतियों और राजाओं ने धार्मिक स्थलों और अपने प्रासादों को सजाने के लिए किया। हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट के अनुसार, शादी जैसे विशेष आयोजनों पर इन मूर्तियों से महल सजाए जाते थे।

7.8 शिक्षा-दीक्षा

जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में शिक्षा का मुख्य केंद्र चर्च था, उसी प्रकार गुप्त काल के बाद की शताब्दियों में विहार, मठ और मंदिर जैसे धार्मिक स्थल शिक्षा के केंद्र के रूप में विकसित हुए। धार, अजमेर, अनदिल्लपुर आदि राजधानियों में भी महाविद्यालय स्थापित किए गए। इन शताब्दियों में उत्तर बिहार का मिथिलांचल और बंगाल का नदिया ब्राह्मण विद्या के केंद्र के रूप में विकसित हुआ। काशी (वाराणसी) के शैव मठ ब्राह्मण विद्या के समृद्ध केंद्र थे। क्षेमेन्द्र बताता है कि गौडा (बंगाल) के छात्र लंबी दूरी तय करके कश्मीर के मठों में अध्ययन करने जाते थे। हेमचंद्र बारहवीं शताब्दी में गुजरात में विद्यामठों के अस्तित्व का उल्लेख करता है। दक्षिण के कई अग्रहार शिक्षा के केंद्र के रूप में विकसित हो रहे थे। इस काल के प्रमुख विश्वविद्यालयों में नालंदा, विक्रमशिला और उदंतपुरी (बिहार), वल्लभी (गुजरात), जगदल्ला और सोमपुरी (बंगाल) और कांचीपुरम् (तमिलनाडु) उल्लेखनीय हैं।

आठवीं शताब्दी से मंदिर पुस्तकालय की भूमिका भी अदा करने लगे। इस परम्परा की वास्तविक शुरुआत जैनों ने की। शिक्षकों/व्याख्याताओं (भट्टारक और श्रीपूज्य) की लंबी सूची प्राप्त होना और उन्हें सम्मान प्रदान करना इस विकास के सूचक हैं। उनके द्वारा शास्त्रदान (धार्मिक पुस्तकों/पांडुलिपियों का उपहार) पर बल देना यह साबित करता है कि पाटन, खंभात और जैसलमेर में पुस्तकों के बड़े भंडार थे। ये भंडार खासकर गुजरात, राजस्थान और कर्नाटक में स्थापित जैन केंद्रों के आवश्यक अंग बन गए। ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध मठों ने भी इसका अनुकरण किया और पूरे भारत में पांडुलिपियों को सुरक्षित और एक जगह इकट्ठा करने की परम्परा की शुरुआत हुई।

तंत्र मंत्र अध्ययन का एक मुख्य विषय था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में तंत्र का एक अलग विभाग होना इसका प्रमाण है। तिब्बती यात्री तारा नाथ 17वीं शताब्दी में भारत आया था। वह बिहार और बंगाल के प्रमुख विश्वविद्यालयों, नालंदा, उदंतपुरी आदि में तांत्रिक विद्या के अध्ययन की विस्तार से चर्चा करता है। आठवीं शताब्दी के बाद चमत्कारी विज्ञान का महत्व भी तेजी से बढ़ा। राजेशेखर ने अपने ''प्रबंध कोष'' में तेरहवीं शताब्दी के दौरान पढ़ाए जाने वाले विषयों का उल्लेख किया है।

शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में विकसित विशेष प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं:

क) भाषाओं की प्रादेशिकता

ख) प्रादेशिक लिपियों का उदय

ग) साहित्य का बढ़ता शब्द-भंडार

गुप्तकाल के बाद का समय साहित्य और भाषा के इतिहास के उत्कर्ष का युग है। इस काल में संस्कृत का फैलाव हुआ। ब्राह्मणों को भू-अनुदान दिए गए। इसके कारण ब्राह्मण दूर-दराज के इलाकों में फैल गए, उनके साथ संस्कृत भी फैला। पर संस्कृत का उपयोग सीमित वर्ग में ही होता था और शनैः-शनैः इसकी सीमा सिकुड़ती गई। अब यह राजन्य वर्ग और उसके प्रशासन की भाषा बनकर सिमट गई। ''नैषाध्य'' में उल्लेख है कि दमयंती के स्वयंवर में उपस्थित राजे-महाराजे संस्कृत का ही उपयोग करते हैं।

अल-बरूनी के अनुसार, उच्च और पढ़े-लिखे वर्ग के लोग आम आदमी की देशी भाषा की उपेक्षा करते थे। इस काल में अपभ्रंश का विकास हुआ, जिससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं जैसे हिंदी, बंगला, राजस्थानी गुजराती, मराठी, मैथिली आदि का विकास हुआ है। अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत जैसी पुरानी भाषाओं और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी थी। इसका जन्म इस काल के काफी पहले हो चुका था। आठवीं शताब्दी की रचना ''कुवल्यमाल'' में 18 अपभ्रंशों का उल्लेख किया गया है। ये भारत के विभिन्न हिस्सों में बोली जाती थीं, बाद में आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में इनका विकास हुआ। राजेशेखर ने एक राजकुमार के अध्ययन के लिए संस्कृत के अलावा प्राकृत, पैशाचिका और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। ''वर्ण रत्नाकर'' में देशी भाषाओं जैसे अवहट, मगधी, शाकरी, अभीरी, चांडाली, सावली द्राविति आदि के पाठ्यक्रम का उल्लेख हुआ है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में आने-जाने की सुविधा उपलब्ध न होने के कारण गुप्त काल के बाद की शताब्दियों में भाषा संबंधी विविधता तेजी से बढ़ी। घुमंतु ब्राह्मणों ने प्रादेशिक भाषा के शब्द-भंडार को समृद्ध किया। लेखन का उपयोग करके इन्होंने स्थानीय बोलियों को भाषा के रूप में विकसित किया।

प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ प्रादेशिक लिपि का भी विकास हुआ। भाषा की विविधता से लिपि के विविध रूप सामने आए। मौर्यकाल से गुप्त काल तक आते-आते लिपि में परिवर्तन हुआ, पर यह परिवर्तन समय के बीतने के साथ-साथ हुआ। गुप्त काल में पूरे भारत में ब्राह्मी लिपि का वर्चस्व था। ब्राह्मी लिपि जानने वाला संपूर्ण भारतवर्ष में फैले गुप्तकालीन अभिलेखों को आराम से पढ़ सकता है। सातवीं शताब्दी के बाद यह तत्व समाप्त हो गया। इस युग से विभिन्न प्रदेशों की लिपि पढ़ने के लिए अनेक लिपियों की जानकारी आवश्यक हो गई निश्चित रूप से प्रादेशिक लिपि का जन्म प्रादेशिक अवरुद्धता (एक प्रदेश दूसरे प्रदेश के बीच संवाद का अभाव) और स्थानीय रूप से उपलब्ध लिपि के मेल से हुआ। स्थानीय शिक्षा और प्रशासन की जरूरतों के कारण प्रादेशिक लिपि का जन्म हुआ। पांडुलिपि, अभिलेख और अन्य प्रकार के लेखन में देवनागरी, असमी, बंगला, ओडिया, तमिल, कन्नड और शारदा (कश्मीर) लिपियों का उपयोग होता था। तमिल के उदाहरण से स्पष्ट है कि लिपि के विकास में भाषा के वैज्ञानिक मानदंड पीछे छूट गए। विभिन्न अभिलेखों के अध्ययन से यह बात सामने आती है कि चेर चोल और पांड्य शासकों द्वारा तमिल भाषा अपनाई गई, पर लिपि का अंतर रखा गया शायद अपनी प्रादेशिक पहचान बनाए रखने के लिए उन्होंने ऐसा किया। चेरों की लिपि वट्टेलुट्टु (गोल लिपि) के नाम से जानी जाती है, यह तमिल ब्राह्मी लिपि का एक प्रकार है, मानो इस लिपि को घसीट कर लिख दिया गया हो। पांड्यों ने कोलेलुट्टु (सीधे आरेखों वाली लिपि) लिपि ग्रहण की और चोलों ने दोनों को मिला दिया। लिपि की अनेकरूपता की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती है। दार्शनिक और धार्मिक विषयों के लिए अलग लिपि थी, इस तमिल ग्रंथ लिपि में लिखी पांडुलिपियां उत्तर में तिब्बत तक पंहुची और बौद्ध मठों ने उस पांडुलिपियों को संग्रहीत कर सुरक्षित रखा।

मध्यकालीन संस्कृत ग्रंथ ''सुभाषितरत्नकोश'' का संपादन करने के क्रम में डी.डी. कोसाम्बी ने कई उपेक्षित कवियों का परिचय दिया, पर उनकी कविता या लेखन को उन्होंने पतनोन्मुख कला का लेखन कहा। पर किसी लेखन को पूर्ण रूप से पतनोन्मुख या विकासोन्मुख नहीं कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति के लिए अगर विकासोन्मुख है

तो किसी के लिए पतनोन्मुख भी हो सकता है। सवाल दृष्टिकोण का है। यह भी जरूरी नहीं है कि सांस्कृतिक पतन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पतन भी हो। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, "पतन" दृष्टिकोण पर निर्भर है। खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और वेल्लूर की रति संबंधी कलाएं किसी को विकृत मस्तिष्क की उपज लग सकती हैं और कोई उसे कला का उत्तम नमूना मान सकता है।

आठवीं शताब्दी के बाद दर्शन, तर्कशास्त्र, वैधानिक ग्रंथों, अलवारों के भक्ति काव्य, शैव आगम, काव्य, आख्यान, गीत, ऐतिहासिक जीवनी, वैज्ञानिक लेखन, शिल्पशास्त्र आदि की बाढ़ आ गई। पर इस काल का लेखन शब्दाडंबर और अलंकरण से आच्छादित हो गया, इसका कारण था तत्कालीन राजाओं और सामंत वर्ग की मनोवृत्ति। इस अलंकरणपूर्ण शैली में तड़क-भड़क वाले विश्लेषण, उपमा और अलंकार का वर्चस्व हो गया। इस काल के साहित्य और अभिलेखों में इस प्रकार की शैली के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाएंगे। बाणभट्ट की गद्य-शैली क्लिष्ट, जटिल और अलंकारयुक्त भाषा का उदाहरण है। वाण का काल यह नहीं है, पर सातवीं शताब्दी के बाद के लेखन में उसकी अनुकृति होती रही।

पद्य के क्षेत्र में द्वाश्रय और श्लेष काव्य खूब रचे गए। इस प्रकार के काव्य में दो अर्थ छिपे होते थे। सांध्याकर नंदी की रचना "रामचरित्र" में राम और बंगाल के राजा रामपाल की जीवनी एक साथ प्रस्तुत की गई है। चालुक्य राज दरबार में 12वीं शताब्दी में "पार्वती-रुक्मिणी की रचना की गई। इसमें शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी विवाह की कथा आई है। हेमचंद्र ने "सप्तआसनभाव" की रचना की, इसकी सात रूपों में व्याख्या की जा सकती है। एक ही वाक्य या पद में एक, दो, तीन और इससे भी ज्यादा अर्थों का समावेश जीवन की कृत्रिमता को प्रतिबिंबित करता है।

7.9 स्थानीय ऐतिहासिक अभिलेख कालक्रम

चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी में भारत आया था। वह बताता है कि जिस-जिस प्रदेश से वह गुजरा, वहां की बोली उसने सीखी। पुस्तक, भाषा आदि विषयों पर टिप्पणी करता हुआ वह कहता है —

"घटनाओं को लिपिबद्ध करने के लिए, उन्हें रिकार्ड करने के लिए सभी प्रदेश में अधिकारी नियुक्त होते थे। घटनाओं की इस विवरणिका को नीलपिट (नीली संचय) कहते थे। इन विवरणिकाओं में अच्छी और बुरी घटनाओं, इनके प्रभाव और दुष्टप्रभाव का जिक्र होता था।"

कश्मीर (राजतरंगिनी), गुजरात (रसमाला प्रबंध, चिंतामणि, वसंत विलास आदि), सिंध (चाचनामा) और नेपाल (वामशावालिस) में प्राप्त ऐतिहासिक अभिलेख ह्वेनसांग के इस कथन का समर्थन करते हैं कि सभी राज्यों में राजकीय ऐतिहासिक अभिलेख तैयार किए जाते थे। ये ऐतिहासिक अभिलेख एक बार फिर संपूर्ण सांस्कृतिक ढांचे और परम्परा में क्षेत्रीयता के बढ़ते प्रभाव की बात की पुष्टि करते हैं।

इस प्रवृत्ति के साथ-साथ कालक्रम का भी स्थानीयकरण हो गया। गुप्तकाल तथा शक और विक्रम के अतिरिक्त किसी अन्य कालक्रम का उपयोग विस्तार से नहीं होता था, गुप्तकाल के बाद की शताब्दियों में नए-नए स्थानीय कालक्रम सामने आए। आरंभिक सातवीं शताब्दी में हर्ष ने खुद एक काल की शुरुआत की। उसके समकालीन आसाम के भास्कर वर्मन ने भास्करब्द की शुरुआत की, कुछ पांडुलिपियों में इसो काल का उपयोग किया गया है। बंगाल में भी एक काल की शुरुआत हुई। जैनों ने महावीर संवत् की शुरुआत की। आसामवासी महान वैष्णव संत और शिक्षक शंकरदेव ने एक नए कालक्रम शंकरानंद की शुरुआत की।

7.10 नई धार्मिक प्रवृत्तियां

इस काल में धार्मिक अनुष्ठानों और कार्यकलापों में महत्वपूर्ण बदलाव आए। भूमि अनुदान के बढ़ते प्रचलन के कारण स्वामी और दास की एक नई अवधारणा सामने आई। दास अपनी सारी सम्पत्ति स्वामी के चरणों में अर्पित कर देता था और फिर प्रसाद रूप में स्वामी जी कुछ देता उससे वह प्रसन्न रहता। इस सामाजिक व्यवस्था से पूजा व्यवस्था की शुरुआत हुई। पूजा भक्ति से सम्बद्ध थी और भगवान के चरणों में पूर्ण आत्म-समर्पण इसका सत्य था। (देखें इकाई 6.5.2)

पूजा और भक्ति तांत्रिक साधना के प्रमुख अंग बन गए। इस तांत्रिक साधना का विकास मध्यदेश के आदिवासी और सीमांत क्षेत्रों में हुआ। इन इलाकों में बड़े पैमाने पर भूमि अनुदान दिए गए और फलस्वरूप आदिवासी लोगों

की संस्कृति में बदलाव आया। इसी बदलाव की प्रक्रिया में तांत्रिक साधना का जन्म हुआ। इन नए इलाकों में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए ब्राह्मण धर्म ने आदिवासी अनुष्ठानों और देवी-देवताओं को अपना लिया। इनमें मातृदेवी प्रमुख हैं। इसी से तंत्रों का समावेश हुआ (देखें इकाई 6.5.3) सातवीं शताब्दी के बाद इस तंत्र साधना ने लगभग सभी धर्मों को प्रभावित किया। यहां तक कि जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्म भी प्रभावित हुए। अगर सभी धर्म ग्रंथों को इकट्ठा किया जाए, तो यह निष्कर्ष निकलेगा इस काल में पूजा, विधि, तंत्र और जादुई विषयों से संबंधित ग्रंथ सबसे अधिक लिखे गए। यहां तक कि जैन धर्म, जो इन तथ्यों को नकारता था, में भी इस प्रकार के ग्रंथ प्रचुर मात्रा में लिखे गए। जैन भंडार ऐसे ग्रंथों से भरे पड़े हैं, इनमें धर्म चक्रयपूजा, दशलक्षण पूजा आदि उल्लेखनीय हैं। जैन अंग साहित्य में पूजा का अर्थ बिल्कुल भिन्न है, खासकर बौद्ध पुजारियों के लिए। इसके बावजूद इसका परिवर्तित रूप सामने आया। बौद्ध पुजारियों के संदर्भ में "पूजा" का अर्थ भिन्न था। पूजा पुजारियों के प्रति सम्मान का पर्याय था, ईश्वर की पूजा के अर्थ में यह प्रयुक्त नहीं होता था। पर यहां निश्चित रूप से हमारा तात्पर्य तीर्थकरों की मूर्ति-पूजा से है। आर. सी. हजारा के अनुसार, छठी शताब्दी के बाद पुराणों में नए अध्याय जोड़े गए, इनमें ब्राह्मणों को दान देने और उनकी पूजा करने की बात की गई, विभिन्न ग्रहों के लिए बलि का प्रावधान रखा गया, उनकी बुरी नज़रों से बचने के लिए व्रत रखने और पूजा करने की वकालत की गई (मंदिर स्थापत्य में नवग्रह की मूर्तियों को शामिल किया गया)। पुराणों में पुर्तधर्म को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। मंदिर बनवाने, तालाब खुदवाने और सार्वजनिक सेवा को धार्मिक कार्य माना जाता था। इन्हें ही पुर्तधर्म कहते थे। इस काल में व्यापक स्तर पर मंदिरों के निर्माण के पीछे पुर्तधर्म सिद्धांत का विशेष योगदान है।

बोध प्रश्न 4

1) आरंभिक मध्यकालीन चित्रकला की चार प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....

2) चेर, चोल और पांड्यों की लिपियों पर टिप्पणी लिखिए।

....
....
....
....
....

3) गुप्तकाल के बाद विभिन्न कालक्रमों (युगों) की शुरुआत हुई। इनमें से किन्हीं चार का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

4) नई धार्मिक प्रवृत्ति के संदर्भ में पूजा और पुर्तधर्म के अर्थ पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

....
....
....
....
....
....

7.11 सारांश

इस इकाई में आठवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच भारतीय संस्कृति में जुड़ने वाली नई प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। इस प्रवृत्ति को "क्षेत्रीयता" के रूप में जानते हैं। इस इकाई में निम्नलिखित बातें शामिल की गई हैं:

- आंध्र, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक आदि प्रादेशिक सांस्कृतिक इकाइयों का उदय
- नागर, द्रविड़ और वेसर स्थापत्य शैलियों की विशेषताएं
- भौगोलिक वितरण, स्थापत्य और प्रतिनिधिक देवी-देवताओं के आधार पर शैलियों का विभाजन
- स्थापत्यगत विशेषताओं के वर्णन के लिए विशेष तकनीकी शब्दावली का प्रयोग
- इमारत बनाने में पारिस्थितिकी और उपलब्ध कच्चे माल का असर
- साज-सज्जा, अलंकरण और अन्य सजावट का अंकुरण
- पत्थर और धातु वास्तु शिल्प के क्षेत्रीय कला केंद्रों का उदय
- वास्तुशिल्प, मिट्टी की मूर्तियां और चित्रकला में "मध्यकालीन प्रभाव" की भूमिका
- अपभ्रंश से विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म
- स्थानीय लिपि, ऐतिहासिक अभिलेख और कालक्रम का विकास
- कला, साहित्य, शिक्षा और धर्म पर सामंती प्रभाव

7.12 शब्दावली

अंतराल: ड्योढ़ी, बाहर का कमरा

बहुकोन शिखरी: ऐसी इमारत जिसकी आधार योजना अर्द्ध चंद्राकार हो।

भद्र: शिखर के फलक का सपाट रुख

भट्टारक: जैन धार्मिक शिक्षक उपदेशक

भद्र देवल: "पवित्र मंदिर" देवल के आगे रखा जगमोहन

भोग मंडप: मंदिर का चिंतन कक्ष

पुत्रलिका: नारी/पशु की मूर्तियां, इनका उपयोग खंभे के रूप में किया जाता था।

देवल: मंदिर का एक नाम

कंगूरा: मंदिर का ऊपरी भाग

गर्भ गृह: देवस्थान, यह मंदिर का सबसे पवित्र स्थल होता है

गोपुरम: अलंकृत प्रवेश द्वार

जगमोहन: गर्भगृह के सामने का कक्ष

कलश: पानी का बर्तन, मंदिर के कंगूरे में बना घड़े के आकार

कुडु: द्रविड़ मंदिर का मेहराब बौद्ध चैत्य मेहराब से प्रभावित अलंकरण

मंडप: खुला बड़ा कक्ष

नट मंदिर: नृत्य/उत्सव कक्ष, जगमोहन के सामने

प्रासाद/प्रसाद: महल/मंदिर, भगवान की अनुकंपा

पुस्तकारक: मिट्टी की मूर्तियां बनाने वाला

रथ: दक्षिण भारतीय मंदिरों के उत्सवों में उपयोग किया जाने वाला रथ, यह महाबलिपुरम के पल्लव स्थापत्य संरचना में प्रयुक्त हुआ है, पर बेमेल है

रेखा-देवल: अर्द्ध चंद्राकार शिखर से युक्त मंदिर

शिखर: मीनार

शिल्पशास्त्र: इमारत और उससे सम्बद्ध कलाओं का शास्त्र

तोरपोर: निष्क्रियता

विमान: देव-स्थल/गर्भगृह की उभरी छत

7.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रादेशिक सांस्कृतिक इकाइयों की सूचना मुद्राराक्षस, कुवल्यमाल, ब्रह्वैवर्त पुराण और ह्वेनसांग के लेखन से मिलती है (देखिए भाग 7.1)
2) देखिए भाग 7.2
3) नागर, द्रविड़, और वेसर, तीन प्रमुख शैलियां (देखिए उपभाग 7.2.1)
4) मुख्य देवी-देवता — शिव, दुर्गा, सरस्वती, गंगा आदि (देखिए उपभाग 7.2.2)

बोध प्रश्न 2

1) गर्भगृह, विमान, शिखर, मंडप, प्रदक्षिणापथ आदि (देखिए उपभाग 7.2.3)
2) छत का आकार पर्यावरण और स्थानीय कच्चे माल की उपलब्धता पर निर्भर करता था (देखिए उपभाग 7.2.4)
3) मालाबार, बंगाल, और पूर्वी तथा पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में यह लोकप्रिय था (देखिए उपभाग 7.2.5)
4) पत्थर रस्सियों के माध्यम से उठाए जाते थे और लकड़ी तथा बल्लों का उपयोग किया जाता था (देखिए भाग 7.3)

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 7.4 (उत्तरी शैली)
2) देखिए भाग 7.4 (दक्षिणी और वेसर शैली)
3) मंदिर से संगीतकार, चित्रकार, बढ़ई, लेखाकार, देवदासी आदि जुड़े हुए थे (देखिए भाग 7.5)
4) तीक्ष्णता, धार और नुकीलापन इसकी मुख्य विशेषताएं थी (देखिए भाग 7.6)

बोध प्रश्न 4

1) देखिए भाग 7.7
2) भाषा तमिल, पर लिपि अलग-अलग।
3) हर्ष व्यवस्था, भास्कराब्द, शंकराब्द, महावीर संवत् (देखिए भाग 7.9)
4) देखिए भाग 7.10

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

रोमिला थापर, ***भारत का इतिहास***
आर.एस. शर्मा, ***भारतीय सामंतवाद***
डी.एन. झा, ***प्राचीन भारत***
शिव शंकर मिश्र, ***प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास***
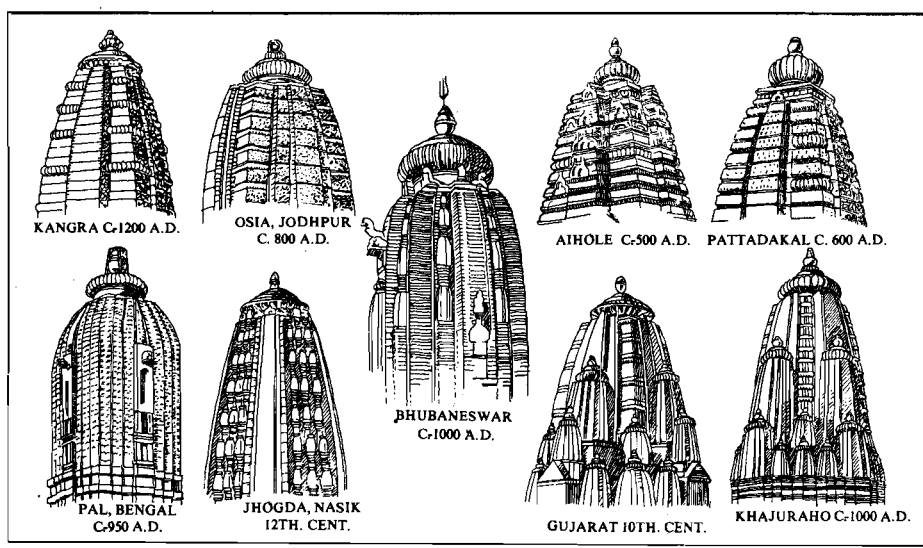
1. मंदिर शिखर (उत्तर-भारतीय शैली)
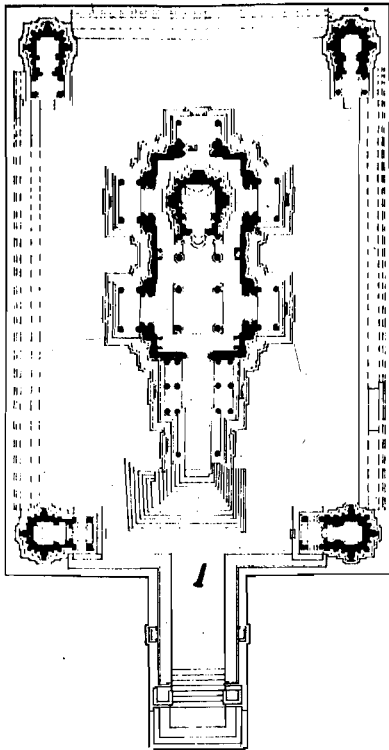
2. नंदी पर बैठे शिव एवं पार्वती (हिंगलाजगढ़ 10वीं शताब्दी)

3. लक्ष्मण मंदिर का नक्शा (खजुराहो, 10वीं शताब्दी)
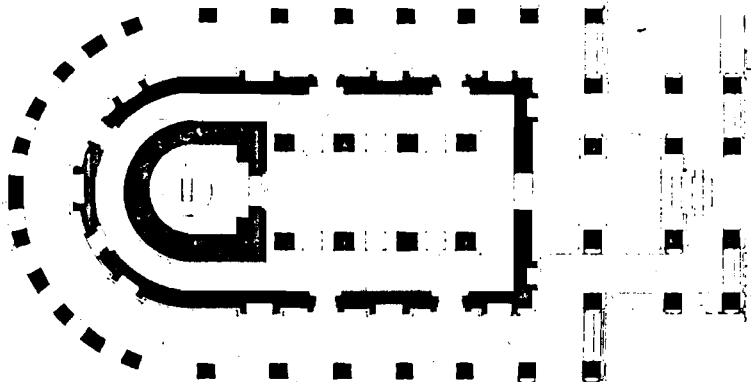
4. दुर्गा मंदिर का नक्शा (अर्द्ध-वृत्त) (आइहोल, 8वीं शताब्दी)
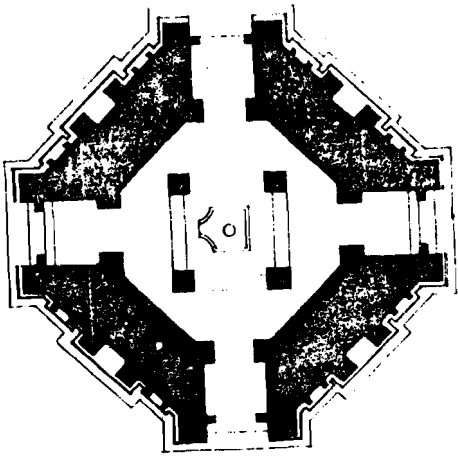
5. मुण्डेश्वरी मंदिर का अष्टमुखी नक्शा
(रामगढ़ 7वीं शताब्दी)
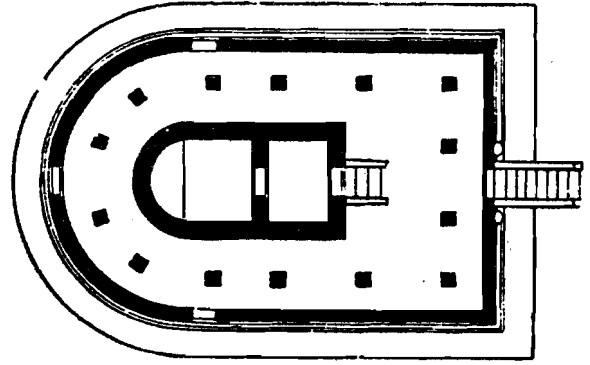
6. वामन मंदिर का अर्द्ध-वृत्तात्मक नक्शा
(किझावेल्लूर, 11वीं शताब्दी)
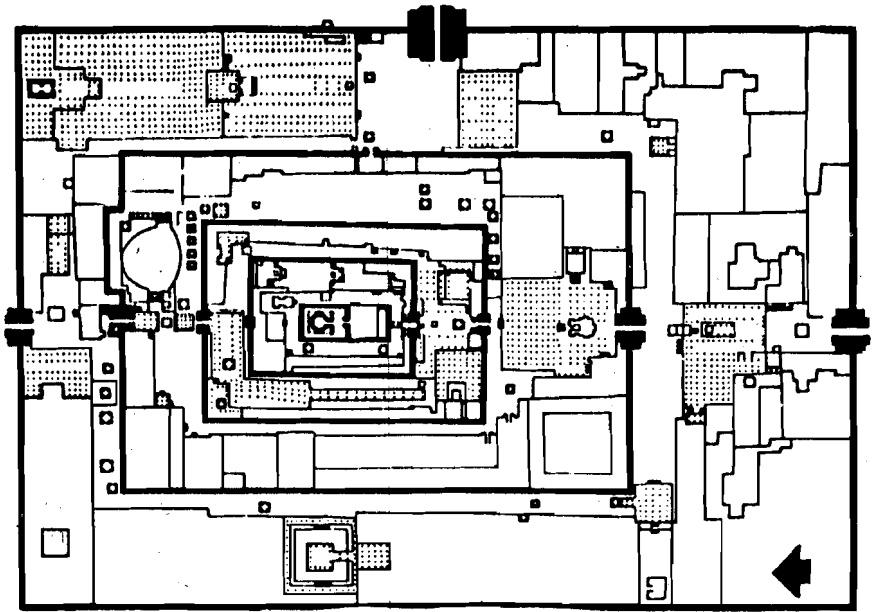
7. विष्णु मंदिर का नक्शा (श्रीरंगम्)
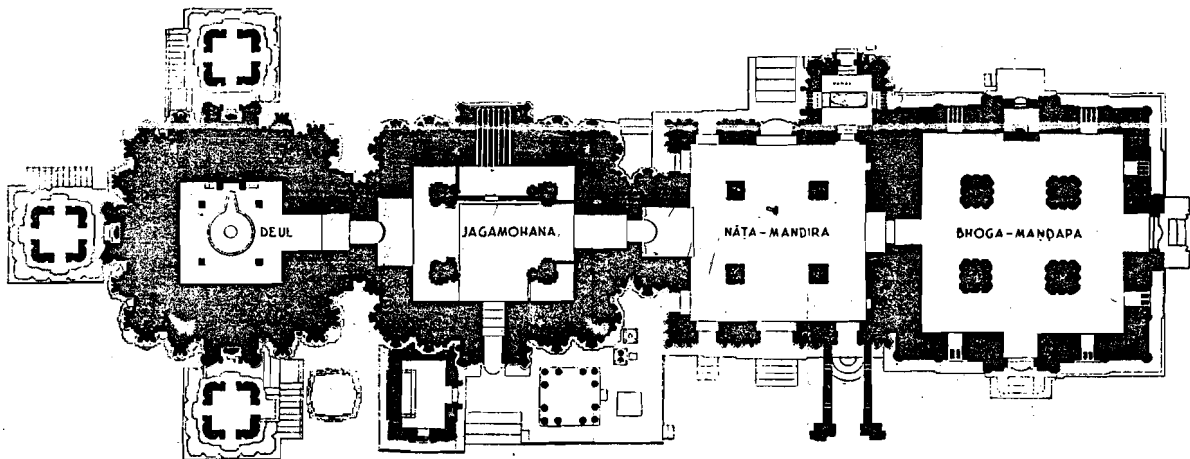
8. लिंगराज मंदिर का नक्शा
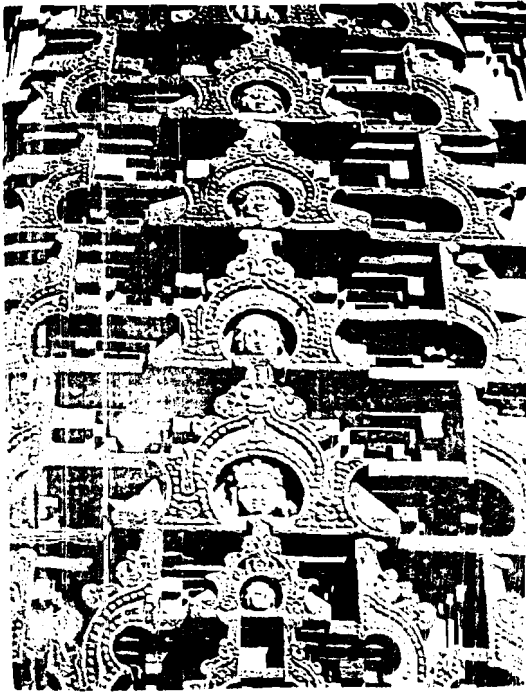
9. गलागनाथा मंदिर की अधिरचना में कुडु का विस्तार
(पट्टलाड्कल, 8वीं शताब्दी)
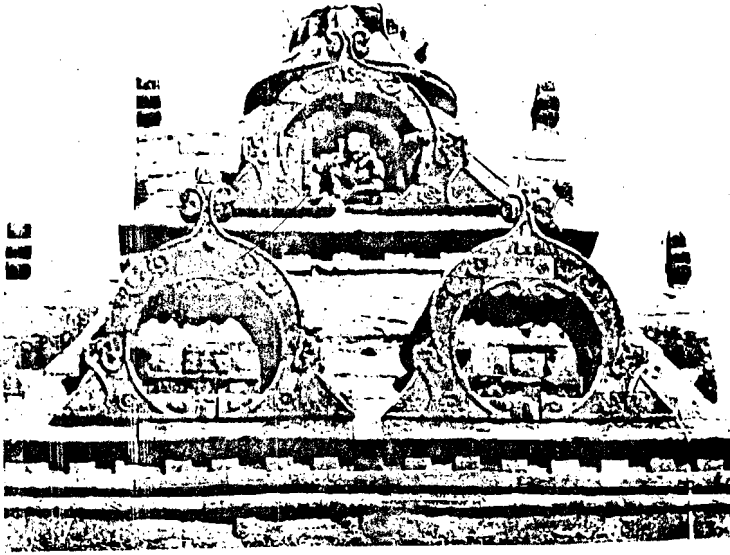
10. विष्णु मंदिर की छत पर मिथ्या घोड़े की नाल की शक्ल की खिड़कियाँ (गोप, 6-7वीं शताब्दी)
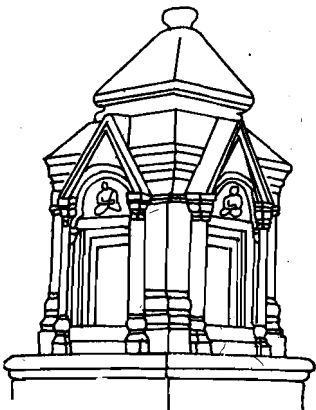
11. कश्मीर शैली का मंदिर
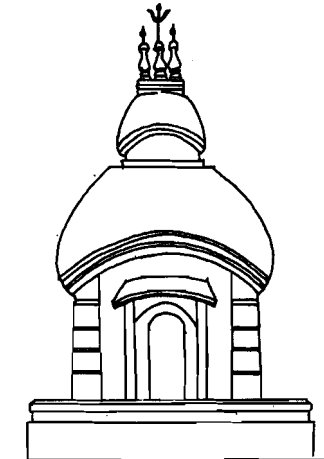
12. पत्ती-झोंपड़ी शैली का मंदिर, बंगाल

13. नेपाल शैली का मंदिर

14. मालाबार शैली का मंदिर
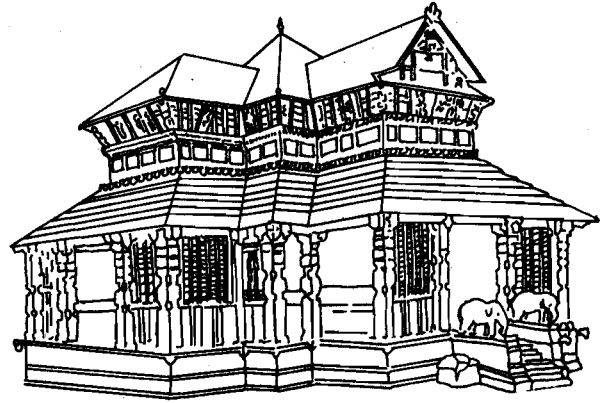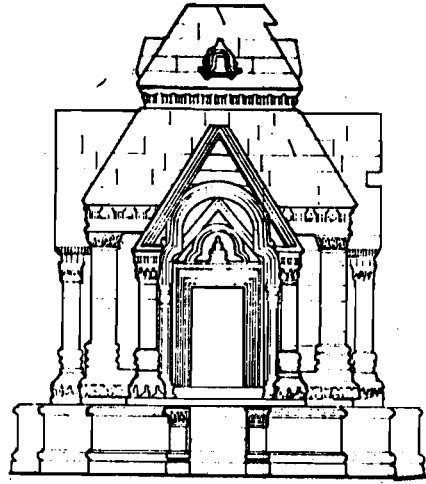
15. शिव मंदिर (पन्ड्रेवन, 9-10वीं शताब्दी)
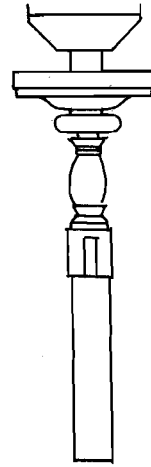
16. (अ) चोल स्तम्भ (ब) पल्लव (स) विजय नगर
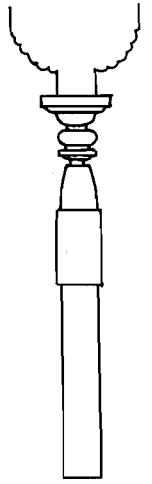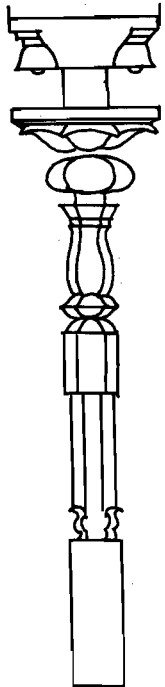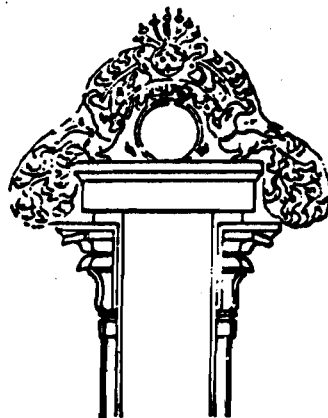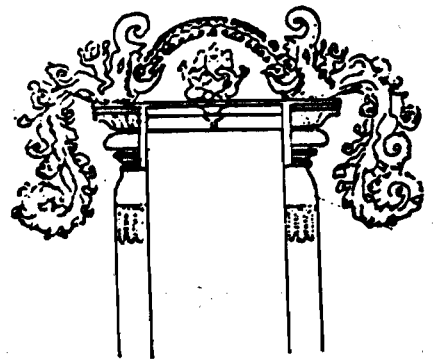
17. (अ) चोल और (ब) पल्लव काल के आले

18. मंदिर निर्माण से संबंधित एक ताड़-पत्ती की पाण्डुलिपि जिसमें वास्तुकार, गणना, ऊँचाई तथा नक्शे को दर्शाया गया है
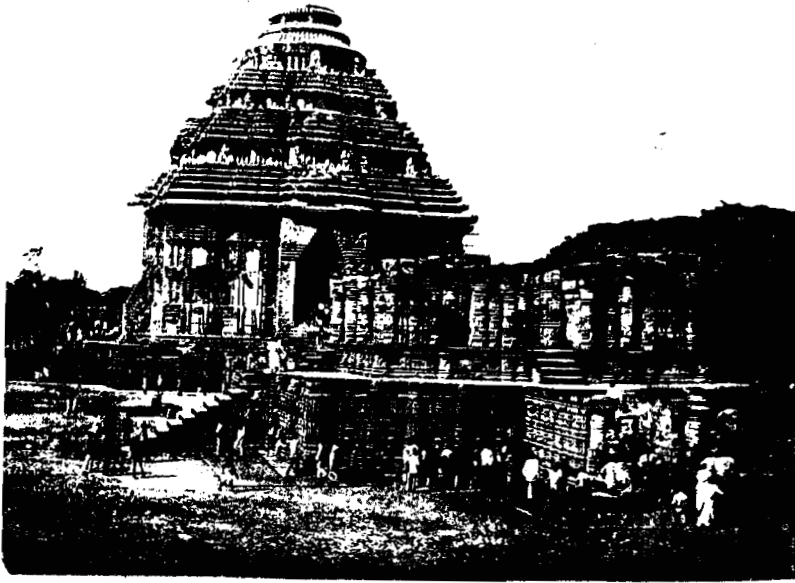
19. सूर्य-मंदिर (कोणार्क, 13वीं शताब्दी)
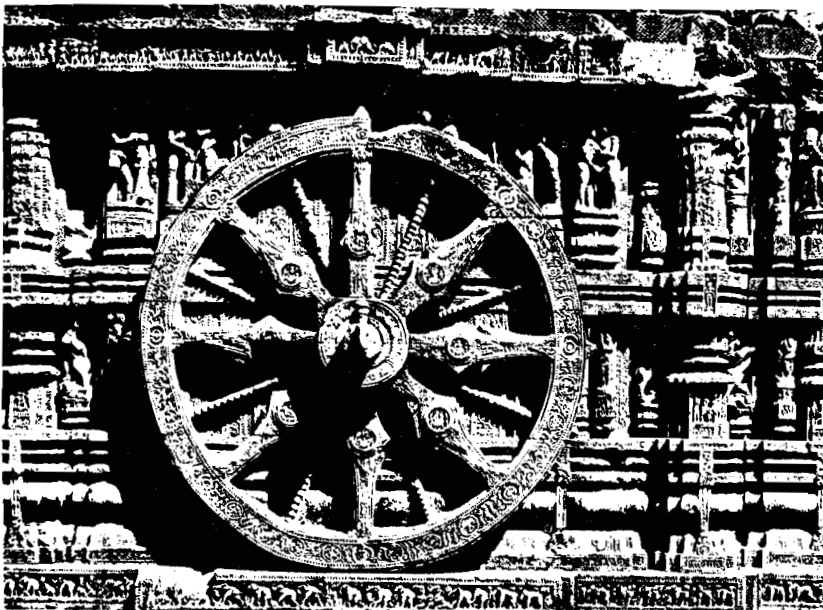
20. द्यूल, जगमोहन और पत्थर के पहिये का चबूतरा (कोणार्क)
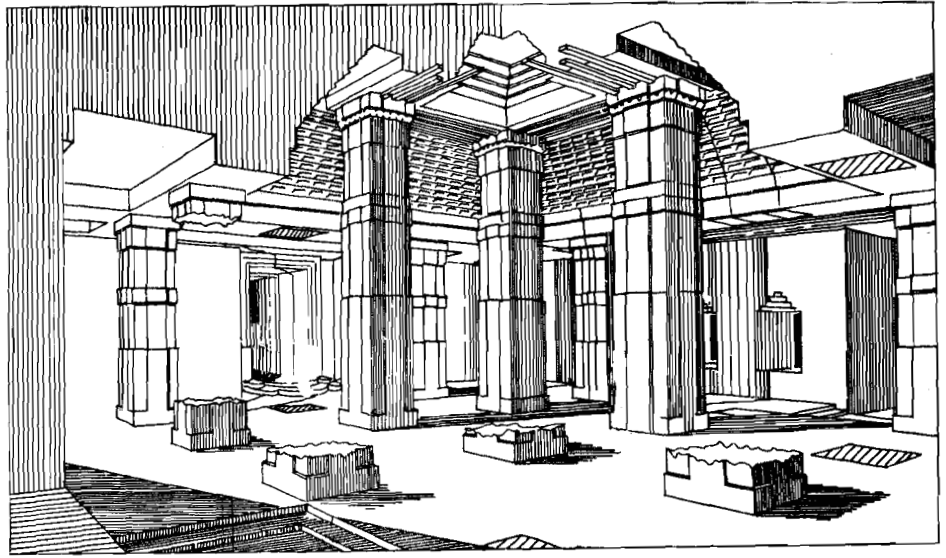
21. नटमंदिर की लोहे की तुलादण्ड वाली छत (जगननाथ मंदिर, पुरी)

22. कैलाश मंदिर (ऐलोरा, 8-9वीं शताब्दी)

23. महाबलीपुरम् के रथ (7वीं शताब्दी)
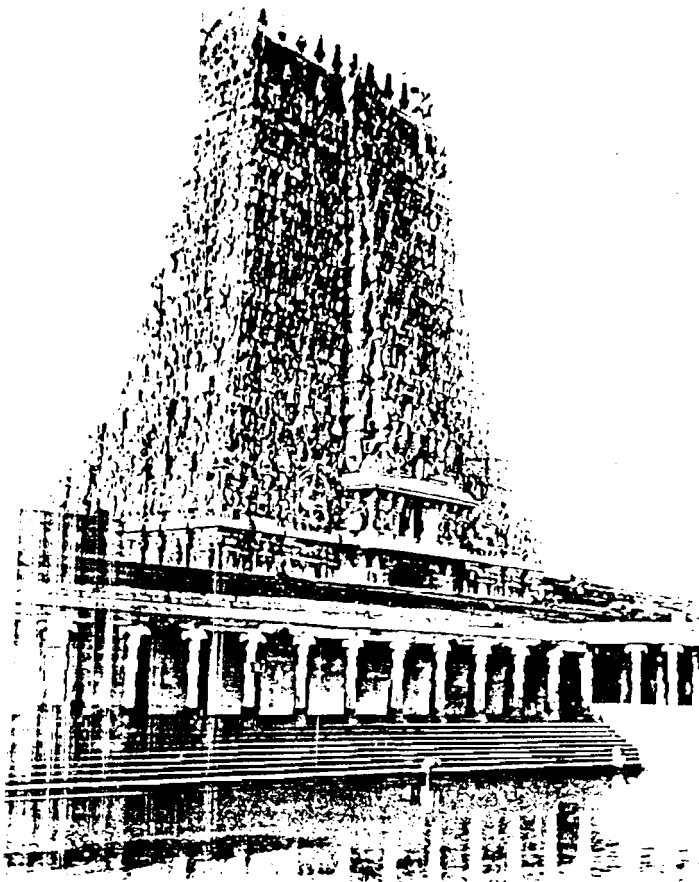
24. मीनाक्षी मंदिर (मदुरई)

25. मीनाक्षी मंदिर के अन्दर की स्तम्भावली

26. मंदिर की कुरसी पर संगीतकार (खजुराहो, 10वीं शताब्दी)
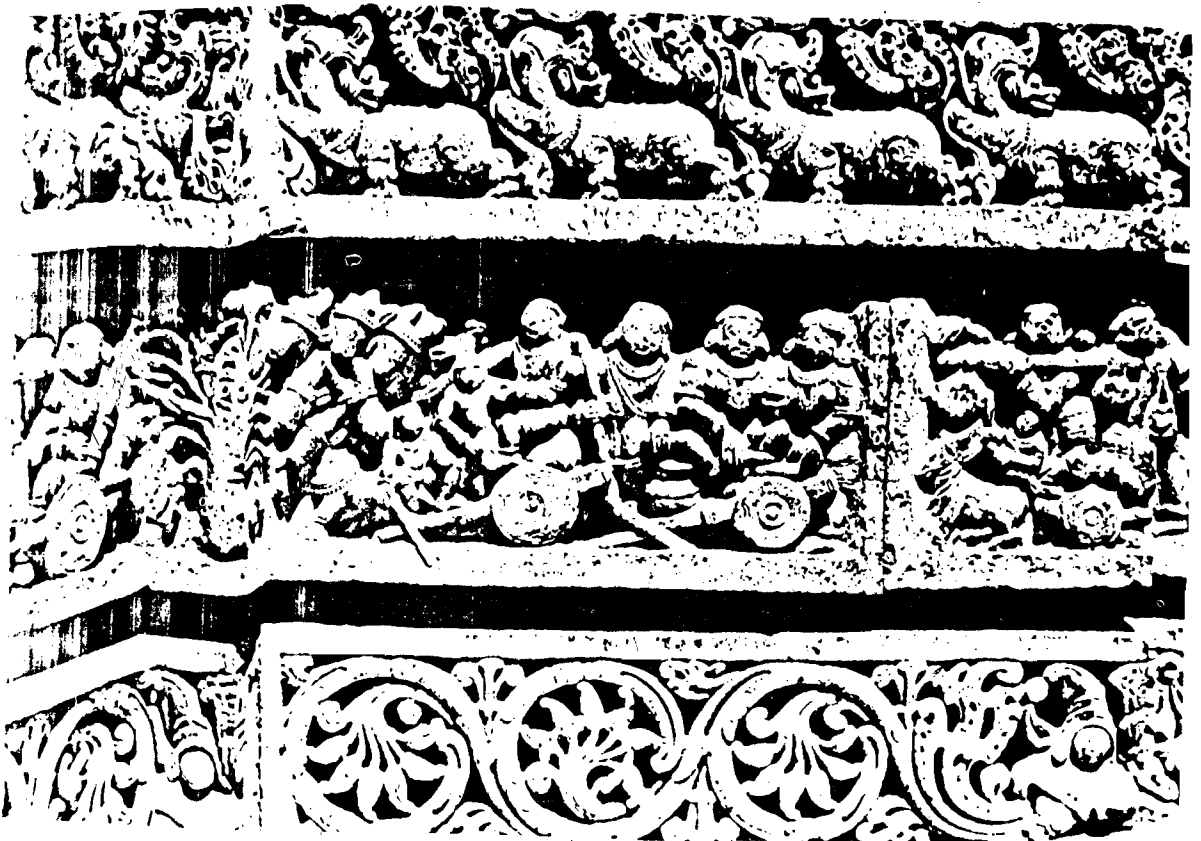
27. काल्पनिक जानवरों, योद्धाओं और पर्णसमूह की नक़्क़ाशी (केशव मंदिर, सोमनाथपुर)।